॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

आत्मधर्म

वर्ष चौथा
अंक चौथा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

श्रावण
२४७४

पराधीनता ही दु:ख है!

आत्मा ज्ञान, शांति इत्यादि अनन्त गुणों का पिंड है। आत्मा में जो राग-द्वेषादि भाव होते हैं, वह आत्मा का त्रैकालिक, स्थाई स्वभाव नहीं है, किन्तु क्षणिक विकारी भाव है। आत्मस्वभाव को भूलकर पर को आत्मरूप मानना, गुण को भूल जाना है, और गुण को भूल जाना, सो स्वतंत्रता खो देना है। स्वतंत्रता को खो दिया, इसलिये दु:ख भोगना ही पड़ेगा।

अपने गुणों को न पहिचानकर, पर में अपना अस्तित्व स्वीकार करके जीव ने यह मान लिया है कि यदि मैं शरीरादि को छोड़ दूँगा तो मैं नहीं रहूंगा? इसप्रकार अपने को नि:सत्व माननेवाला अपनी आत्मा का अनादर तथा गुणों की हत्या करता है और वह परमुखापेक्षी है।

आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, आनंद और वीर्य की मूर्ति है। जबतक उसे इसप्रकार न समझे तथा पर को ही अपना मानता रहे, तबतक जीव को स्वतंत्र धर्म नहीं मिल सकता, और जब स्वतंत्र धर्म नहीं होगा तो परतंत्र विकार होगा और यही दु:ख है।●

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग ४० दर्शक मासिक पत्र

छुटक अंक
पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

हे जीव! तू विचार कर!

१—हे जीव! तूने पहले अनन्त जन्मों में पुण्य किया और यह माना कि इस पुण्य से धर्म होगा, किंतु अभीतक तुझे धर्म का अनुभव नहीं हुआ, और तेरे संसार का अन्त नहीं आया। इसलिये तू विचार कर कि पुण्य, धर्म का उपाय नहीं है, किन्तु उससे भिन्न कोई दूसरा उपाय है।

२—पहले अनन्त जन्मों में पुण्य के फलस्वरूप स्वर्ग का देव हुआ और वहाँ की प्राप्त सामग्री में सुख माना, किन्तु अनन्तबार इन सुख सामग्रियों को भोगकर भी तेरे दुःख का अन्त नहीं आया, और सुख प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये विचार कर कि सुख कहीं बाह्य सामग्रियों में नहीं, किन्तु बाह्य सामग्री रहित तेरे ज्ञानस्वभाव में ही है।

३—अनादिकाल से तू शरीर को अपना मान रहा है; और यह मान रहा है कि मैं शरीरादि के कार्य कर सकता हूँ, तथा तू इन शरीरादि की रक्षा के लिये अनन्तकाल से भाव कर रहा है, किन्तु अनन्त जन्मों के व्यतीत हो जाने पर भी तेरे साथ एक भी शरीर या कोई दूसरी वस्तु नहीं रही। अनन्त शरीर प्राप्त हुए और उन्हें छोड़ने की तेरी इच्छा न होने पर भी वे सब चले गये; एक परमाणु भी तेरा होकर नहीं रहा। इसलिये हे जीव! तू विचार कर कि शरीरादि परवस्तुओं पर तेरा स्वामित्व नहीं है, उनमें से कोई भी तेरे नहीं हैं, और उनके कार्यों का भी तू कर्ता नहीं है। किन्तु तू शरीरादि से भिन्न स्वभाव वाला कोई निराला ही तत्व है। उस तत्व का परिचय न होने से ही तू दुःखी है।

इसलिये विचार कर कि तुझमें ऐसा कौनसा तत्व है कि जिसे जाने बिना तू अनन्तकाल से दुःखी हो रहा है? पहले तुझे अनेकबार स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी इत्यादि का संयोग प्राप्त हो चुका है, किन्तु फिर भी तू सुखी नहीं हो सका। इसलिये तू यह निश्चय कर कि तेरा सुख कहीं परद्रव्यों में नहीं, किन्तु तेरे आत्मा में ही है। इस आत्मा को जानने का तू प्रयत्न कर; ....पहले कभी आत्मा को नहीं जाना, इसीलिये दुःखी होता रहा है।

हे जीव! तुझे पहले अनन्तबार सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का समागम हो चुका है, फिर भी तू धर्म को प्राप्त नहीं कर सका। इसलिये विचार कर कि देव-गुरु-शास्त्र भी तेरे लिये कुछ भी करने को समर्थ नहीं हैं; किन्तु तू अपने आत्मा के सत्य पुरुषार्थ से ही धर्म को प्राप्त कर सकेगा। देव-गुरु-शास्त्र तो तुझे तेरे आत्मा को ही पहचानने को कहते हैं; किन्तु तूने कभी अपने आत्मा की ओर

देखा तक नहीं है, इसलिये सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का संयोग मिलने पर भी तेरा अज्ञान दूर नहीं हुआ।

इसलिये हे जीव! अब तू अन्तरंग में विचार करके अपने आत्मा का उसप्रकार से अवलोकन कर,-जैसा कि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कहते हैं। अपने आत्मा का अवलोकन करने से ही तेरा अज्ञान, दुःख और अधर्म दूर होकर तुझे ज्ञान-सुख और धर्म की प्राप्ति होगी।●

कुन्दकुन्द वाणी

गतांक से आगे

(५) कषाय का मन्द होना धर्म का फल नहीं है और प्रतिकूलता के समय तीव्र आकुलता न करे, सो यह भी धर्म का कार्य नहीं है; यह तो राग की मंदता है, अर्थात् कषाय ही है। सत्समागम का फल यथार्थ समझ और सम्यग्दर्शन है, और उसके बाद ही सच्चे वैराग्य होता है। सम्यग्दर्शन होने पर जीव के प्रति समय गुणों की विशुद्धपर्याय बढ़ती जाती है; सो यह धर्म का फल है।

(६) 'भक्ति इत्यादि का शुभराग करते-करते सम्यक्दर्शन हो जायगा' ऐसा मानना मिथ्यात्व है; और 'सत् के श्रवण का शुभराग करते-करते समझ में आ जायगा'—इसप्रकार मानना भी मिथ्यात्व है; क्योंकि उसमें शुभराग के द्वारा सम्यग्ज्ञान का होना माना है। किन्तु भेदज्ञान का अभ्यास करते-करते और स्वभाव की रुचि तथा महिमा करते-करते ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है।

(७) सत्स्वभाव की घोषणा से तथा उसके श्रवण-मनन से कभी किसी को हानि हो ही नहीं सकती। (अपूर्ण)

धर्म करने की रीति

[पंचास्तिकाय गाथा ४८ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

आचार्यदेव, जीव के स्वरूप का वर्णन करते हैं। द्रव्य और उसके गुण भिन्न नहीं हैं किन्तु एकरूप हैं। आत्मा के ज्ञानादि-अनंत गुण आत्मा में हैं; यदि तू उन्हें बाहर से ढूंढ़ेगा तो वे प्राप्त नहीं होंगे। बाह्यलक्ष से आत्मगुण प्रगट नहीं होते। ज्ञानादिगुण आत्मा के हैं, वे आत्मा के साथ एकरूप हैं, इसलिये आत्माभिमुख होकर उन गुणों को ढूंढ़। यदि पुण्य-पाप में ढूंढ़ेगा तो तेरे वे गुण नहीं मिलेंगे। तेरे वे गुण किसी बाह्यक्रिया में नहीं हैं। ज्ञान और आत्मा की एकता को जानकर ज्ञानगुणरूप परिणमित होना ही धर्म है।

ज्ञानीवस्तु आत्मा है, और ज्ञान उसका गुण है। उस गुणी में ही गुण को और गुण में ही गुणी को ढूंढ़। जो बाहर गुण-गुणी को ढूंढ़ते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। आत्मा, ज्ञानगुण में है; रागादि में नहीं और ज्ञानगुण, आत्मा में है; रागादि में नहीं। इसलिये तेरे स्वभाव में गुण-गुणी की एकता के लक्ष से तेरे गुण प्रगट होते हैं।

आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वभावरूप है। ज्ञान और आत्मा में भेद नहीं किन्तु एकत्व है। यदि चैतन्य को ज्ञानगुण से सर्वथा भिन्न माना जाय तो ज्ञान के बिना आत्मा और आत्मा के बिना ज्ञानगुण जड़ सिद्ध होगा। अर्थात् यदि ज्ञान और आत्मा को सर्वथा भिन्न माना जायगा तो चैतन्यस्वरूप आत्मा का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। इसलिये गुण-गुणी की एकता को जानकर, यदि ज्ञानगुण को आत्मा में और आत्मा को ज्ञानगुण में ढूंढ़े; तथा इसप्रकार गुण-गुणी की एकता की ओर अन्तर्मुख होकर अभिमुख हो तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतराग गुण प्रगट हों, तात्पर्य यह है कि जैसे शुद्धगुण हैं, वैसी ही-उनका अनुसरण करती हुई शुद्धपर्याय प्रगट होती है, और वह रागरहित है।

आत्मा में ज्ञानादिगुण अनादि-अनन्त हैं,-ऐसी प्रतीति करके, यदि अन्तर्मुख होकर अवलोकन करेगा तो ज्ञान-शांति को प्राप्त कर सकेगा। किन्तु यदि ज्ञान, आनन्द इत्यादि गुण एकरूप हैं, ऐसी प्रतीति नहीं करेगा तो किसके लक्ष से ज्ञानानन्द प्रगट करेगा? यदि आत्मा में ज्ञानानन्दादि गुण त्रिकाल न हों तो उनके बिना आत्मा के जड़ता सिद्ध होगी, और यदि ज्ञानानन्दादि में आत्मा सदा न हो तो आत्मा के बिना वे गुण जड़ हो जायेंगे और फिर वे गुण किसके आश्रय से रहेंगे?

आलू के एक छोटे से टुकड़े में अनन्त जीव विद्यमान हैं, और उनमें से प्रत्येक त्रिकाल विद्यमान हैं। भले ही सर्वथा हीन पर्याय हो, तथापि उसके अनन्तगुणों से उसकी एकता भंग नहीं हुई है।

यदि कोई यह पूछे कि–अनन्त आत्मा और उसके अनन्त गुणों का निर्णय कैसे हो सकता है? तो उसका उत्तर यह है कि–जिस ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा में गुण–गुणी की एकता का निर्णय करता है, उस ज्ञान में अनन्त आत्माओं के स्वरूप का भी निर्णय आ जाता है। एक आत्मा में अनन्तगुण हैं, इसका निर्णय करने की शक्ति ज्ञान की पर्याय में है। अरूपी वस्तुओं का निर्णय करने की भी ज्ञान की शक्ति है। यदि एक क्षणभर को भी ज्ञानादि अनन्तगुणों को आत्मा में पृथक् माना जाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि–त्रिकाल आत्मा को गुणों से रहित माना है, और जो अनन्त आत्मा हैं, उन्हें–प्रत्येक को उनके अनन्त गुणों से भिन्न माना है; इसलिये यह मान्यता मिथ्या है। जहाँ एक क्षणभर को भी अपने आत्मा की विपरीत मान्यता की, कि उस एक विपरीत निर्णय में अनन्त का विपरीत निर्णय आ जाता है। इसीप्रकार एक आत्मा के निर्णय में अनन्त आत्माओं के स्वरूप का सीधा निर्णय हो जाता है।

अन्तरंग स्वभाव में गुण–गुणी की एकता है, उसी के अन्तरंग आश्रय से गुण प्रगट होते हैं। यदि यह आन्तरिक आश्रय न ले, और किसी भी क्षण पुण्य से, बाह्य त्याग से, उपवासादि से शरीर के क्षीण हो जाने से, अथवा स्त्री का साथ छोड़ देने से, या ऐसे ही किसी भी बाह्याश्रय से आत्मा के गुणों का प्रगट होना माने तो समझना चाहिये कि उसने अन्तरंग आत्मा को गुणों से त्रिकाल भिन्न माना है। उसने अपने विपरीत अभिप्राय से आत्मा का विपरीत निर्णय किया है और इसप्रकार एक का विपरीत निर्णय करके अनन्त का विपरीत निर्णय किया है।

गुण–गुणी की एकता स्वभाव से ही है, किसी निमित्त के कारण से नहीं। एकरूप स्वभाव के आश्रय से ही गुण की निर्मलदशा प्रगट होती है; निमित्त के या राग के आश्रय से नहीं। क्योंकि निमित्त के और राग के आश्रय से तो विकार की ही उत्पत्ति होती है, तथा स्वभाव के आश्रय से निर्मल वीतरागी भाव की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार स्वाश्रित अन्तरंगदृष्टि से जिसने गुण–गुणी की एकता की प्रतीति की है, उसका अनन्त वीर्य, स्वभाव की ओर लगा हुआ है। अपने आत्मा को गुण–गुणी, अभेदस्वरूप स्वीकार करने का अर्थ यह है कि उसने अनन्त आत्माओं को भी वैसे ही स्वभाववाला स्वीकार किया है। यहाँ सीधे निर्णय में अनन्त का सीधा निर्णय आ गया है। यह सब

ज्ञान की ही शक्ति है, और ज्ञान तो आत्मा के साथ एकरूप है। यदि ऐसी गुण-गुणी की एकता की प्रतीति करके स्वभावाभिमुख हो तो राग के साथ की एकता टूटकर वीतरागपर्याय प्रगट हो। सम्यग्दर्शन भी वीतरागपर्याय है।

गुण-गुणी की एकता स्वभाव से ही है, वे कभी अलग नहीं होते। तीव्र राग करने से कहीं गुण और गुणी अलग नहीं हो जाते और कषाय के मंद करने से कहीं गुण-गुणी की एकता लक्ष में नहीं आती। गुण-गुणी की एकता सदा एकरूप है। उसकी एकता का लक्ष कषाय की मंदता से नहीं होता। मेरे गुण का आधार द्रव्य है,-इसप्रकार स्वाश्रित प्रतीति करके एकरूप द्रव्य को प्रतीति में ले तो गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी टूटकर गुण-गुणी की एकता का लक्ष होता है, और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। कषायभाव से अथवा गुण-गुणी के भेद के लक्ष से गुण-गुणी का एकस्वरूप प्रतीति में नहीं आता। जब तक गुण-गुणी की एकता की प्रतीति न करे, तब तक पर्याय में गुण प्रगट नहीं होता, अर्थात् धर्म नहीं होता।

यहाँ कहा है कि-गुण-गुणी की एकता का लक्ष अकषायभाव से हो सकता है, कषाय की मन्दता से नहीं। यहाँ **प्रश्न** होता है कि-अकषायरूप तो भगवान महावीरादि हो गये हैं, छद्मस्थों के तो कषायभाव होता है; तब फिर उन्हें गुण-गुणी की एकतारूप स्वभाव की प्रतीति कैसे होगी? इसका **समाधान** यह है कि-आत्मा का स्वभाव त्रिकाल अकषायरूप है, उसके लक्ष से आंशिक अकषायभाव होता है। शुद्धात्मा की प्रतीति सम्यक् अकषायभावरूप है। भगवान महावीर के भी त्रिकाल अकषायस्वभाव था; उसी में से अकषायत्व प्रगट हुआ है या बाहर से? जैसा महावीर का स्वभाव है, वैसा ही मेरे आत्मा का स्वभाव है। मेरे स्वभाव की अन्तरंग क्रिया में कोई पुण्य-पाप के भाव या निमित्त का संयोग किंचित्मात्र सहायक नहीं है;-ऐसी प्रतीति के बिना कषाय की मन्दता को व्यवहार भी नहीं कहा जा सकता, वह तो व्यवहाराभास है। जहाँ गुण-गुणी की एकतारूप निश्चय का लक्ष हुआ, वहाँ व्यवहार होता है। यदि गुण-गुणी की एकता का लक्ष करे तो रागादिरहित दशा प्रगट हो, और वहाँ जो राग हो, वह व्यवहार कहलाये। किन्तु यदि गुण-गुणी की एकता के लक्ष के बिना कषाय की मन्दता करे तो उसे व्यवहार भी कैसे कहा जा सकता है? जहाँ निश्चय होता है, वहीं व्यवहार हो सकता है, निश्चय के बिना व्यवहार नहीं हो सकता।

भगवान महावीर ने आज (वैशाख सुदी १० को) केवलज्ञानदशा प्राप्त की थी, जीवनमुक्तदशा प्रगट की थी। इससे पूर्व उन्हें गुण-गुणी की एकता की प्रतीति तो थी ही, और उसी में अत्यधिक एकाग्रता करके बहुत सी कषाय का अभाव कर लिया था, किन्तु अभी अत्यन्त अल्प

कषाय शेष थी। आज सम्पूर्ण स्वरूप-एकाग्रता के द्वारा कषाय का सर्वथा नाश करके केवलज्ञान प्रगट किया था; इसलिये आज 'केवलज्ञान कल्याणक' का मंगल दिन मनाया जाता है। महावीर स्वामी को किसी बाह्याश्रय से केवलज्ञान प्रगट नहीं हुआ था, किन्तु ज्ञानगुण और आत्मा त्रिकाल एकरूप थे, उसी के आश्रय से वह गुण केवलज्ञानदशारूप परिणमित हुआ है। जो एक क्षणभर के लिये भी गुण को पराश्रित मानता है, मानो वह त्रिकाल के आत्माओं को गुण से भिन्न मानता है। जो यह मानता है कि व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट हो जाता है, उसे भी गुण-गुणी की एकता की प्रतीति नहीं है। स्वाश्रय के बिना गुण की निर्मलपर्याय प्रगट नहीं होती। पराश्रय से जो रागादिरूप पर्याय प्रगट होती है, वह परमार्थतः आत्मा के गुण की पर्याय नहीं कहलाती।

आत्मा अनादि-अनन्त है। उसकी पर्याय में ज्ञान, आनन्द, और निर्मलता कैसे प्रगट होती है, उसकी यह बात है। स्वाश्रय से गुण-गुणी की एकता का लक्ष करे तो गुण प्रगट हो। गुण-गुणी की एकता कहीं नई नहीं करनी है, वह तो त्रिकाल एकतारूप ही है; किन्तु यदि श्रद्धा-ज्ञान के द्वारा उस एकता की प्रतीति करे तो उसके आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट हो। स्वयं पात्रता से अन्तरंग का स्पर्श करके यह माने कि मेरे स्वभाव में विकल्प का आश्रय नहीं है, किन्तु गुण-गुणी त्रिकाल अभेदरूप है, उसी के आश्रय से पर्याय में गुण प्रगट होता है। ऐसा माननेवाले के एकता की प्रतीति है। किन्तु जो यह मानता है कि पराश्रय से, विकल्प से गुण प्रगट होगा, वह सदाकाल गुण-गुणी को भिन्न मानता है। वह शास्त्रों को पढ़कर भले ही यह कहता हो कि गुण और गुणी अभिन्न हैं, किन्तु उसे अन्तरंग से उसकी एकता की प्रतीति नहीं है।

जो यह मानता है कि मेरे त्रैकालिक गुण की पर्याय बाह्यसंयोगों से प्रगट होगी, वह मानो गुणों को आत्माश्रय के बिना ही मानता है; और इसलिये वह आत्मा का लक्ष छोड़कर पुण्य से और राग से गुण मानता है। शुभराग भले ही हो, किन्तु उससे गुण प्रगट नहीं होते। गुण-गुणी की एकता के स्वभाव की ओर अभिमुख होने पर जो राग कम हो जाता है, वह व्यवहार कहलाता है, किन्तु स्वभावाभिमुखता के बिना पर के लक्ष से जो राग घटाये, उसे व्यवहार भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में तो उसका राग कम हुआ ही नहीं है, क्योंकि थोड़े ही समय में त्यों का त्यों तीव्र राग हो जायगा और स्वभाव के लक्ष से जो राग कम हुआ, सो हुआ; फिर वह राग नहीं आयगा।

ज्ञानगुण है और ज्ञानवान् द्रव्य। गुण और द्रव्य एकतारूप हैं। यदि उन्हें एक क्षणभर को भी पृथक् माना जाय तो दोनों जड़ हो जायेंगे;-ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव का कथन है। वास्तव में तो आत्मा

या ज्ञान कोई भी जड़ हो ही नहीं सकते, किन्तु आत्मा और ज्ञान को पृथक् माननेवाले के ज्ञान की अवस्था अज्ञानरूप हो जाती है।

यदि ज्ञान और आत्मा भिन्न हो तो जानने का कार्य ही न हो सके। अग्नि और उष्णता की भाँति आत्मा और ज्ञान एकमेक हैं। यदि अग्नि और उष्णता भिन्न हो, अर्थात् यदि अग्नि में उष्णता न हो और उष्णता में अग्नि न हो तो वह लकड़ी को जलाने का कार्य नहीं कर सकेगी। यदि अग्नि से उसका गुण पृथक् हो तो उष्णताहीन अग्नि, लकड़ी को कैसे जला सकेगी? और यदि उष्णता गुण में अग्नि न हो तो अग्नि के बिना वह उष्णता किसके आधार से रहेगी?

तत्वार्थसूत्र में कहा है कि-'द्रव्याश्रया निर्गुणागुणाः' अर्थात् गुण, द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और एक गुण में दूसरे गुण नहीं होते; इसलिये गुण निराश्रय नहीं होते। यदि उष्णता को अग्नि का आश्रय न हो तो उष्णता गुण ही नहीं हो सकता, और वह किसी को जलाने का कार्य नहीं कर सकता। 'जैनसिद्धान्त प्रवेशिका' में गुण की यह परिभाषा की है कि-जो द्रव्य के सम्पूर्णभाग में और उसकी सर्व अवस्थाओं में व्याप्त हो, सो गुण है। अर्थात् गुण और द्रव्य में सदा एकता है। उष्णतागुण का आधार अग्नि है, अर्थात् उष्णता अग्नि के सम्पूर्ण भाग में और उसकी सर्व अवस्थाओं में व्याप्त है; एक क्षणभर को भी उष्णता अग्नि से पृथक् नहीं है। यदि अग्नि न हो तो अकेली उष्णता लकड़ी को जलाने का काम नहीं कर सकती, और यदि उष्णता न हो तो उष्णतारहित अग्नि भी जलाने का काम नहीं कर सकेगी। इसीप्रकार यदि गुण और गुणी भिन्न हों तो वे क्रिया के करने में असमर्थ सिद्ध होंगे। दोनों की एकता होने पर ही क्रिया होती है। दो में से एक का अभाव होने पर दूसरे का भी अभाव हो जाता है। इससे यह निश्चित हुआ कि वे दोनों अभिन्न ही हैं।

इसीप्रकार अग्नि को आत्मा और उष्णता को ज्ञानगुण समझना चाहिये। अग्नि और उष्णता की भाँति आत्मा और ज्ञान में भी एकता है। यदि आत्मा और ज्ञान पृथक् हों तो वे जानने की क्रिया करने में असमर्थ सिद्ध होंगे। उनके पृथक् होने पर जानने की क्रिया किसमें होगी? यदि कोई कहे कि आत्मा में होगी, तो ज्ञानहीन आत्मा कैसे जान सकेगा? और यदि कोई कहे कि वह क्रिया ज्ञान में होगी, तो आत्मा के आधार के बिना ज्ञान की क्रिया किसके आधार से होगी? यदि वह जानने की क्रिया शास्त्र इत्यादि के आधार से मानी जाय और आत्मा के आधार से न मानी जाय तो जानने की क्रिया ही नहीं हो सकेगी। पराश्रय से मात्र विकार की ही क्रिया होती है।

गुण-गुणी की एकता के लक्ष के बिना जो ज्ञान होता है, वह वास्तव में ज्ञान की क्रिया नहीं किन्तु विकारी क्रिया है। तब वह ज्ञान, ज्ञानरूप नहीं रहा, किन्तु रागयुक्त हुआ। वह ज्ञान नाशवान है। स्व के लक्ष से रहित पर का ज्ञान नाशवान है। आत्मा के लक्ष से रहित नौ पूर्व के पाठी भी अभी निगोद में पड़े हुये हैं। आत्मा और ज्ञान की एकता की प्रतीति के बिना संसार को नष्ट करने की क्रिया ज्ञान नहीं कर सकेगा, और मोक्षमार्ग की क्रिया नहीं हो सकेगी। आत्मा और ज्ञानस्वभाव की एकता को माने बिना विकार का नाश किसके आधार से करेगा? और ज्ञान की निर्मलता किसके लक्ष से प्रगट होगी? ज्ञानगुण के द्वारा आत्मद्रव्य साध्य है। गुणलक्षण के द्वारा सम्पूर्ण गुणीद्रव्य को पहचानने का प्रयोजन है। यदि गुण-गुणी को अभिन्न माना जाय तो अभेद के लक्ष से भेद का विकल्प दूर करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया जा सकता है। किन्तु यदि गुण-गुणी को पृथक् ही माना जाय तो गुण-गुणी का भेदाश्रय कभी भी दूर नहीं हो सकता, और विकल्प से हटकर कभी भी सम्यग्दर्शन नहीं होगा। उसे सदा पराश्रय ही बना रहेगा।

कहीं शास्त्राधार से ज्ञान नहीं होता। शास्त्रों में तो ज्ञान का अंश भी नहीं है। क्योंकि ज्ञान आत्मा पर अवलम्बित है। जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ शास्त्र निमित्त हो सकते हैं; किन्तु यदि कोई शास्त्र से ज्ञान का होना माने तो समझना चाहिये कि उसकी दृष्टि ही बाह्य है, क्योंकि वह आत्मा को और ज्ञान को भिन्न मानता है। यदि आत्मा से ज्ञानगुण भिन्न हो तो आत्मा के आधार के बिना ज्ञान की क्रिया नहीं हो सकेगी। और जब कि आत्मा में ज्ञानगुण एकरूप नहीं होगा तो ज्ञान के बिना आत्मा और आत्मा के बिना ज्ञान कैसे जानेगा?

जैसा कि शास्त्रों में लिखा है, उसीप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को मान ले, किन्तु अन्तरंग स्वभाव में द्रव्य-गुण की एकता के लक्ष से निर्मल पर्याय प्रगट होती है,—इसप्रकार स्वाश्रय से समझकर द्रव्य-गुण-पर्याय की एकता न करे, और शास्त्रादि के अवलम्बन से ज्ञान का होना माने तो उसे कभी भी सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय प्रगट नहीं हो सकती, और जन्म-मरण का अन्त नहीं आ सकता। और कदाचित् शास्त्रज्ञान नहीं हो, परन्तु अपनी पात्रता से सत्पुरुष के निकट से सुनकर यदि स्वाश्रयभाव से द्रव्य-गुण की एकता को समझे और उसका आश्रय ले तो द्रव्य-गुण के ही आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट हो और जन्म-मरण का अन्त हो जाय। सत्पुरुष के निकट श्रवण किये बिना कोई अपनी स्वच्छन्दता से चाहे जितने शास्त्र पढ़े, फिर भी वह सत्स्वभाव को प्राप्त नहीं कर सकेगा। इस सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है:—

निज कल्पना थी कोटि शास्त्रो मात्र मन नो आमलो।
जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सांभलो॥

अर्थात्—अपनी कल्पना से करोड़ों शास्त्रों का पढ़ लेना, मात्र मन की ऐंठन है। इसलिये हे भव्यजीवो! जिनेन्द्र कथित ज्ञान को सब सुनो!

तेरे ज्ञानादि गुणों के साथ त्रिकाल एकता है, रागादि विकार के साथ नहीं; यह समझकर, विकार का लक्ष छोड़कर, स्वभाव के लक्ष से पुरुषार्थ कर, तो विकार का नाश हो और गुणों की निर्मल पर्याय प्रगट हो, यही प्रयोजन है। इस प्रयोजन को समझे बिना यदि कोई अपनी कल्पना से करोड़ों शास्त्रों को पढ़ डाले और समयसार शास्त्र का हजारों बार परायण कर जाय, किन्तु उसे आत्मा का किंचित्मात्र लाभ नहीं होगा। स्वच्छन्दता को छोड़कर ज्ञानी पुरुष के समागम से देशनालब्धि के बिना, अपनी कल्पना से एक अक्षर भी यथार्थ समझ में नहीं आयेगा। ज्ञानी के समागम से अपने अन्तरंग में आत्मा और ज्ञान की एकता की अन्तर्दृष्टि किये बिना शास्त्र से कुछ मिलनेवाला नहीं है। एकबार पात्रतापूर्वक ज्ञानी पुरुष के निकट से देशनालब्धि प्राप्त करनी चाहिये।

श्री धवलशास्त्र भाग ६ पृष्ठ २०४ पर देशनालब्धि की सुन्दर परिभाषा दी गई है कि—छहद्रव्य और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। ऐसी देशना देनेवाले आचार्य इत्यादि की उपलब्धि, और उनके द्वारा उपदिष्ट अर्थ का ग्रहण, धारण तथा विचारणा की शक्ति की यथायोग्य प्राप्ति का होना देशनालब्धि है। ज्ञानी पुरुष के समागम से स्वयं पात्र होकर बहुमानपूर्वक अंतरंग में सत् का ग्रहण कर लिया है-विचारशक्ति भी प्रगट की है, किन्तु वर्तमान साक्षात् अनुभव नहीं हुआ—ऐसी पात्रता को देशनालब्धि कहते हैं। जो ऐसी देशनालब्धि को प्रगट करता है, उसे अवश्य ही अनुभव के द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। किन्तु पहले ज्ञानी के निकट से उपदेशश्रवण करके देशनालब्धि को प्रगट किये बिना किसी जीव को त्रिकाल में भी धर्म परिणमित नहीं होता। अनादिकालीन वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि सत् में सत्पुरुष ही निमित्तरूप होता है, ऐसा श्रीमद्राजचंद्रजी ने भी कहा है।

प्रश्न :—जैसे कोई पुरुष कुल्हाड़ी से लकड़ी काट रहा हो, तो उसे कुल्हाड़ी के संयोग से काटनेवाला कहा जाता है; किन्तु वहाँ वह पुरुष अपने से पृथक् कुल्हाड़ी के संयोग से कार्य करता है; इसीप्रकार ज्ञान पृथक् है, और उसके द्वारा आत्मा कार्य करता है-ऐसा क्यों नहीं माना जाता?

उत्तर :—दृष्टान्त में भी पुरुष की काटने की शक्ति है। यदि पुरुष में ही काटने की शक्ति न

हो तो कुल्हाड़ी क्या करेगी ? पुरुष की शक्ति पुरुष से भिन्न नहीं, किन्तु एकरूप है। कुल्हाड़ी बाह्य उपकरण है और वीर्यान्तराय का क्षयोपशम आभ्यन्तर उपकरण है। पुरुष की आन्तरिक शक्ति के बिना (मात्र कुल्हाड़ी से) छेदनकार्य नहीं हो सकता। (यहाँ मात्र दृष्टान्त है) इसलिये लौकिक अपेक्षा से कथन समझना चाहिये। वास्तव में तो जड़ की क्रिया, जड़ से स्वयं होती है। यहाँ तो दृष्टान्त में से मात्र इतना ही ग्रहण करना है कि-पुरुष और पुरुष की शक्ति-दोनों में भिन्नता नहीं है। इसीप्रकार आत्मा में ही जानने की शक्ति है, उससे वह जानता है। बाह्य निमित्तों से ज्ञान की शक्ति नहीं होती, किन्तु ज्ञान और आत्मा दोनों सदा एकरूप ही हैं। प्रकाश, शास्त्र, उपाध्याय इत्यादि बाह्य कारणों के होने पर भी, यदि आत्मा में ही ज्ञान की शक्ति न हो तो जानने की क्रिया कहाँ से होगी ? यदि वस्तु में ही स्वयं शक्ति न हो तो वह किसी पर के द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकती और यदि वस्तु में ही शक्ति है तो फिर यह क्यों कहा जाता है कि वह पर के द्वारा होती है ? सच तो यह है कि आत्मा का ज्ञान बाहर से प्रगट नहीं होता, किन्तु वह अन्तरंग में त्रिकाल विद्यमान है, उसी में से प्रगट होता है। यदि अन्तरंग में रागरहित स्वभाव को जानने की शक्ति न हो तो बाह्य में शास्त्र, गुरु इत्यादि पर के लक्ष से सम्यग्ज्ञान प्रगट नहीं हो सकता। जहाँ त्रिकालशक्ति विद्यमान है, वहाँ एकाग्र हो तो सम्यग्ज्ञान प्रगट हो। तात्पर्य यह है कि ज्ञान-ज्ञानी की एकता की प्रतीति होना सम्यग्ज्ञान का कारण है। इस ज्ञान के बिना राग को तोड़कर स्वभाव की एकता करने की क्रिया आत्मा कभी नहीं कर सकता।

वीतरागी, सहज सुन्दर, सुखरूप परमानन्दस्वभाव का अजान-अज्ञानी जीव बाह्य से ज्ञान-आननद मानता है, और इसलिये वह उन्हें बाह्य में ही ढूँढ़ता है, स्वाभिमुख होकर अन्तरंग में नहीं ढूँढ़ता। आत्मा और ज्ञान की एकता की प्रतीति के द्वारा अभेदरूप निज शुद्धात्मा की अनुभूति ही उपादेय है।

भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, आनन्द के साथ एकमेक है, उसके आनन्द के लिये बाह्य में कोई साधन नहीं हैं, किन्तु स्वयं आनन्दस्वभाव के साथ अभेदरूप है; इसकी प्रतीति और अन्तरंगाभिमुखता ही आनंद प्रगट होने का साधन है। खाने-पीने में या राग में कहीं भी आत्मा का आनंद नहीं है। किसी गिरि-गह्वर में भी आनन्द नहीं है, किन्तु आनंद और आत्मा एकाकार हैं, उसमें एकाग्र होने पर आनन्द प्रगट होता है। मैं अपने वीतरागी आनन्दस्वभाव में एकता करूँ कि वहाँ राग के साथ भी एकता छूट जाती है, और संयोग तो छूटे हुये ही हैं। यदि इसप्रकार स्वाश्रय

आनन्द की प्रतीति करे तो पर में सुख या आनन्द की कल्पना स्वप्न में भी न रहे, और स्वाश्रय से आनन्द प्रगट हो।

जो यह मानते हैं कि–'अनुकूल संयोग हो तो धर्म करना ठीक हो' वे मानों, संयोगों से धर्म की उत्पत्ति मानते हैं, और उसे यह प्रतीति नहीं होती कि अपने स्वभाव में ही धर्म है। उसने अपने आत्मा को और गुण को एकतारूप नहीं जाना है, इसलिये वह मानता है कि संयोग से गुण प्रगट होता है। अज्ञानी सोचता है कि इतनी लक्ष्मी प्राप्त हो जाय जिससे जीवनभर निश्चित आजीविका चलती रहे, तो फिर शान्तिपूर्वक आत्मा का ध्यान किया जा सके। किन्तु हे भाई! तेरी शांति, लक्ष्मी पर अवलम्बित है या स्वभाव पर? लक्ष्मी हो या न हो, किन्तु तेरा आत्मा तो तेरी शांति के साथ त्रिकाल एकरूप है। यदि उस पर लक्ष दे तो शांति प्रगट हो। लक्ष्मी इत्यादि का राग हो, सो बात अलग है, किन्तु ज्ञानी यह कदापि नहीं मानता कि उसके आश्रय से धर्म प्रगट होगा। ज्ञानी जानता है कि मैं जब अपने स्वभाव के आश्रय से एकता करके लीन होऊँगा, उसी समय स्वभावस्थित ज्ञान और आनन्द प्रगट हो जायगा, किन्तु पहले यह प्रतीति करे कि मैं स्वयं त्रैकालिक चैतन्यस्वरूप हूँ, तभी तो वह वर्तमान में प्रगट होगा! जब इसप्रकार सामान्य की ओर लक्ष दे कि मैं सामान्यस्वभाव से त्रिकाल आनन्दस्वरूप हूँ, तो विशेष में आनन्द प्रगट हो।

आत्मा का वीतराग आनंद सहज और सुन्दर है। सहज का अर्थ यह है कि वह अपने स्वभाव से ही है। उसे किसी पर का अवलम्बन नहीं है, किन्तु वह स्वतः ही आनन्दरूप है। आत्मा और आनन्द त्रिकाल एकरूप हैं। अज्ञानी आत्माा के भी उसका आनन्दगुण त्रिकाल अभेदरूप अपने में ही विद्यमान रहता है, किन्तु उसे उसकी प्रतीति नहीं होती; इसलिये पर्याय में प्रगट अनुभव नहीं होता। सत्स्वभाव की प्रतीति करना ही आनंद प्रगट करने का उपाय है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी साधन से आनन्द प्रगट नहीं हो सकता। कई लोग कहा करते हैं कि यह विषमकाल है, इसलिये इस समय धर्म को समझना कठिन प्रतीत होता है; किन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि तेरी पर्याय ही तेरा स्वकाल है। तू अपने आत्मस्वभाव की प्रतीति करके स्वपर्याय को स्वभाव में एकाग्र कर, तो तेरा अच्छा काल ही है। तेरा काल तेरी पर्याय में ही है। तुझे अपने स्वतंत्र स्वभाव को सुधारने की खबर नहीं है, और तू बाहर के काल से शांति लेना चाहता है, परन्तु इस उपाय से तेरी शांति प्रगट होनेवाली नहीं है। तेरी शांति पर में नहीं, किन्तु तुझमें ही है।

गुण, द्रव्याश्रित ही होते हैं, वे अकेले नहीं रह सकते। सभी गुण, द्रव्य के आश्रय से रहते हैं; एक गुण के आश्रय से दूसरा गुण नहीं रहता। गुण की अपेक्षा से एक गुण से दूसरा गुण स्वतंत्र है, किन्तु सभी गुण एक द्रव्य के ही आश्रय से हैं। द्रव्य और गुण में भेद नहीं है। द्रव्य को छोड़कर गुण

अन्यत्र कहीं भी नहीं रहते। यदि अभेद द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो समस्त गुण-पर्याय से अभिन्नरूप एक द्रव्य हैं; किन्तु यदि गुणभेद या पर्यायभेद से देखा जाय तो अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें हैं। उनमें से प्रत्येक गुण स्वतंत्र है और प्रत्येक पर्याय भी स्वतंत्र है।

बहुतों के मन में यह प्रश्न उठता है कि-जब गुण त्रिकाल शुद्ध है, तब फिर पर्याय में विकार कैसे होता है ? उसका समाधान यह है कि-उस समय की पर्याय स्वतंत्र है, और स्वतंत्ररूप से वह पर्याय विकाररूप परिणमित होती है, उस पर्याय का वैसा स्वभाव है। उस समय की पर्याय स्वाधीन द्रव्यस्वभाव में लीन न होकर पर में लीन हुई, इसलिये वह विकाररूप हुई है; वह स्वयं ही कारण-कार्यरूप है।

प्रथम तो, गुण-गुणी अभिन्न हैं,-यह दृष्टि करने के बाद भेददृष्टि से देखने पर प्रत्येक गुण स्वतंत्र है, और वह प्रत्येक गुण अपने-अपने आधार से है तथा प्रत्येक पर्याय अपने-अपने आधार से है और द्रव्यदृष्टि से देखने पर, द्रव्य-गुण त्रिकाल अभिन्न है। द्रव्य-गुण-पर्याय में भेद कहना, सो व्यवहार है। जो गुण-गुणी को पृथक् मानता है, उसके कभी भी गुण प्रगट नहीं हो सकता। जैसे कुल्हाड़ी और पुरुष का संयोग संबंध है; वैसे ही गुण-गुणी का अर्थात् ज्ञान और आत्मा का उसीप्रकार का संयोग संबंध नहीं है, किन्तु त्रिकाल एकतारूप 'समवायसंबंध' अर्थात् तादात्म्यसंबंध है। जैनदर्शन में त्रिकाल एकतारूप संबंध को समवायसंबंध कहा है। अन्य दर्शन समवायसंबंध का अर्थ यह करते हैं कि-दो भिन्न वस्तुओं का बाद में सम्बंध होना समवायसंबंध है। किन्तु वास्तव में तो गुण-गुणी में त्रिकाल एकतारूप संबंध है, और वही समवायसंबंध है। ज्ञान, आनंद, पुरुषार्थ इत्यादि अनन्तगुण आत्मा के साथ एकमेकरूप हैं, वे कहीं बाहर से नहीं मिलते।

सारांश यह है कि ज्ञान और आत्मा भिन्न-भिन्न कार्य नहीं करते; उन दोनों (ज्ञान और आत्मा) में ऐक्य है। इसलिये यदि उस स्वभाव की प्रतीति करे तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मलता प्रगट होकर केवलज्ञान प्रगट हो; उसी का नाम अपने लिये 'केवलज्ञान-कल्याणक महोत्सव' है। अपना महोत्सव दूसरे मनायें या न मनायें, सो यह तो पुण्याधीन है। किन्तु स्वयं अपने अनादि-अनन्त गुण-गुणी की एकता की प्रतीति के द्वारा श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र को प्रगट करना ही सारभूत है। अभेददृष्टि से गुण के द्वारा यदि गुणी को न साधे तो तेरा ज्ञान कहीं भी स्थिर नहीं होगा, और बाहर की परिभ्रमण करता रहेगा। गुण-गुणी की एकता की श्रद्धा के बिना भ्रमण दूर नहीं होगा। गुण-गुणी की एकता की प्रतीति करने पर विकार के साथ की एकता (संबंध) टूट जाती है, और भवभ्रमण की समाप्ति हो जाती है। ●

चर्चा और व्याख्यान

[पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा श्री समयसार गाथा १३ तथा पद्मनंदिपंचविंशतिका के ऋषभजिनस्तोत्र पर दिये गये व्याख्यानों और तत्सम्बन्धी चर्चा का सार यहाँ दिया जा रहा है। इससे पूर्व के अंकों में ९६ बातें प्रगट की जा चुकी। उससे आगे का भाग यहाँ प्रगट किया जा रहा है।]

(९७) वीतराग धर्म कोई पक्ष, गुट्ट या कल्पना नहीं है, किन्तु आत्मा का स्वरूप ही वीतराग है। आत्मा का वीतरागस्वभाव स्वयं ही यह कहता है कि वीतरागता ही धर्म है; जितनी व्रत इत्यादि की भावना उत्पन्न होती है, वह राग है, धर्म नहीं। इसप्रकार वीतराग धर्म और राग की भिन्नता को समझकर यदि वीतराग का स्तवन करे तो उसकी स्तुति सच है। जिन्हें वीतरागस्वभाव की प्रतीति है, और जो राग को धर्म नहीं मानते, ऐसे जीवों को जब साधकदशा में भक्ति-स्तुति का भाव उत्पन्न होता है, तब उसमें वीतराग देव-गुरु-शास्त्र का ही निमित्त होता है; उन्हें रागी देव, कुगुरु या कुशास्त्र के प्रति कदापि भक्ति जागृत नहीं होती।

(९८) तत्व की प्रतीति के बिना यदि कोई भगवान की स्तुति करे और उसके भाव को न समझे तो-भाव को समझे बिना, मात्र शब्दों का उच्चारण कर जाने से कोई लाभ नहीं होता। यथावत् शुद्ध स्तुति बोले, किन्तु उसके अर्थ को न समझे तो भी वह भगवान की स्तुति नहीं है।

''हे जिनेन्द्रदेव! जैसे आप रागादि मल का नाश करके रागादि से रहित हुये हैं, उसीप्रकार मेरा स्वभाव भी वैसा ही है, और मैं भी उसी स्वभाव की भावना के द्वारा रागादि मल को धोकर उसी परमात्मपद को प्राप्त करूँगा, जिसे आपने प्राप्त किया है।'' इसप्रकार की यथार्थ समझ जिसे हो, वही जीव, भगवान की सच्ची स्तुति करने के योग्य है। जो भय से, आशा से, लोभ से या स्नेहादिक से किसी भी कुदेवादि को मानता है, या उसे नमस्कार करता है, वह केवली भगवान का शत्रु है,-सत्य का अनादर करनेवाला है; उसे वीतराग की किंचित्मात्र भी भक्ति नहीं है। सत् और असत् दोनों मार्ग में एक साथ पैर नहीं चलते! जिसे सत् का सेवन करना हो, उसे असत् का सेवन छोड़ना होगा। जैसे आधा दूध और आधा विष मिलाकर पिया जाय तो वह सारा मात्र विषरूप ही परिणमित हो जाता है, उसीप्रकार जो सत् और असत्-दोनों को मानता है, वह मात्र असत् के सेवन में ही परिणत होता है, अर्थात् उसके मात्र असत् का ही सेवन है। जो संसार के लौकिक कार्यों के लिये सत् को गौण करके असत् का आदर करता है, उसे सत् के अनादर का महापाप लगता है।

(९९) वीतराग-सर्वज्ञदेव को किसी की चिन्ता नहीं थी; उन्होंने अपने सर्वज्ञत्व में जैसा

आत्मस्वभाव जाना, वैसा ही वाणी द्वारा कहा गया है। सर्वज्ञकथित आत्मस्वभाव की बात त्रिकाल में भी नहीं बदल सकती। जो इससे अंशमात्र भी विरुद्ध मानता है, वह वीतरागदेव का घोर शत्रु है। यद्यपि वीतरागदेव को हानि पहुँचाने में कोई समर्थ नहीं है, किन्तु जब वीतरागदेव के एक भी भव शेष नहीं है, तब उसके अनन्तभव हैं; वीतरागदेव के अनन्त सुख है, तब उसके अनन्त दुःख है; इसप्रकार वीतरागदेव के जितने गुण हैं, उससे विरुद्ध दोष उस (विपरीत मान्यतावाले जीव) में पाय जाते हैं; इसप्रकार वह वीतराग का शत्रु है।

(१००) आत्मा त्रिकाल सत् स्वयंसिद्ध वस्तु है, वह परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप है, उसके स्वरूप में रागादि विकार नहीं हैं। जो शारीरिक क्रिया से अथवा रागादिभाव से आत्मा का धर्म होना मानते हैं, वे आत्मस्वरूप को नहीं जानते, वे वीतराग के सच्चे भक्त नहीं हैं। वीतरागता और राग एक दूसरे से विरुद्ध हैं। जो वीतरागता का उपासक है, उसे राग के प्रति आदर नहीं होता, और जिसे राग का आदर है, वह वीतरागता का उपासक नहीं है। वीतरागता का आदर करनेवाला मोक्ष का साधन करता है, और राग का आदर करनेवाला संसार को बढ़ाता है। वीतरागस्वभावी आत्मतत्व का विरोध करनेवाले को एक भी अच्छा भव मिलनेवाला नहीं है।

(१०१) यहाँ भगवान ऋषभदेव की स्तुति के संबंध में कहा जा रहा है। भगवान के गुणों के परिचयसहित स्तुति कैसी होती है और स्तुतिकर्ता भक्त कैसे होते हैं, इस संबंध में बहुत कुछ गया है। ऋषभ जिनस्तोत्र के रचयिता श्रीपद्मनन्दि आचार्य वनवासी निर्ग्रन्थ सन्त मुनि थे; उन्हें ब्रह्मचर्य के प्रति अद्भुत प्रेम था। उन्होंने पद्मनन्दि पंचविंशतिका का पच्चीसवाँ अधिकार समाप्त करके अन्त में एक विशेष 'ब्रह्मचर्याष्टक' नामक अधिकार लिखा है। जो अप्रमत्त और प्रमत्त भूमिका की सहज भूमिका में झूल रहे हैं, उन्हें केवलज्ञान प्राप्त करने की उत्कट भावना प्रगट हुई है, किन्तु एक अल्प राग का विकल्प शेष रह गया है, ऐसे वीतरागी सन्त-मुनि ने यह स्तुति की है। इस स्तुति के कुल ६१ श्लोक हैं, जिनमें से ५८ समाप्त हो चुके हैं:—

(१०२) अब, ५९ वें श्लोक में आचार्यदेव कहते हैं:—हे त्रिभुवनगुरु जिनेन्द्र! आपके अनन्तगुणों के समूहरूपी आकाश में गमन करनेवाली यह शुभविकल्परूपी पक्षिनी चाहे जितनी दूर चली जाय, तथापि वह आपके अनन्तगुणों का पार पाने में समर्थ नहीं है। आत्मस्वभाव का पार स्वभाव से ही प्राप्त किया जा सकता है; विकल्पों के द्वारा नहीं। हे नाथ! हम आपके लक्ष से चाहे जितनी स्तुति करें किन्तु उसमें तो राग ही होता है; उस राग से हम अपने स्वभाव की पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकेंगे; किन्तु जब राग को तोड़कर स्वरूप में स्थिर होंगे, तब स्वभाव की पूर्णता प्राप्त

होकर केवलज्ञान प्रगट होगा, और उस केवलज्ञान के द्वारा ही आपके अनन्तगुणों के पार को प्राप्त किया जा साकेगा।

(१०३) हे प्रभो! हमने रागी या अपूर्ण जीवों देव के रूप में स्वीकार नहीं किया है, किन्तु परिपूर्ण वीतराग और सम्पूर्ण ज्ञानी ऐसा आपको देव के रूप में माना है। मैं आपका नन्दन, आपका दास हूँ। जो पति के वस्त्राभूषण पहने और पति का अन्न खायो, किन्तु पति की आज्ञा न माने, वह कहीं पत्नी कही जाने योग्य है? उसीप्रकार यहाँ भी नहीं चल सकता। यहाँ तो जो भगवान का भक्त हुआ, वह स्वयं भगवान हो जाता है,–ऐसा मार्ग है। अपने को वीतराग का भक्त कहलवाये और राग में धर्म माने, सो क्या यह भी वीतराग को मानना कहा जा सकता है? 'हे वीतराग! जैसे आप हैं, वैसा ही मैं अपने स्वभाव से हूँ। जो राग होता है, उसे मैं अपने स्वभाव में स्वीकार नहीं करता।' जो इसप्रकार मानता है, वह वीतराग का भक्त है, और वीतराग की रुचि–बहुमान के द्वारा राग का नाश करके अल्पकाल में ही स्वयं वीतराग हो जाता है। हे नाथ! आपको पूर्ण स्वभावदशा प्रगट है, उसके परिचय और बहुमान से अब मैं भी कुदेवादि की मान्यता का त्याग करके और रागादि में धर्म की मान्यता को छोड़कर (अर्थात् गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके) पूर्ण आत्मस्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान और स्थिरता के बल से आपके समान ही हो जाऊंगा;–ऐसी निःशंकता भगवान के भक्त को होती है; वही जैन है।

(१०४) आचार्यदेव कहते हैं कि–हे नाथ! मैं आत्मस्वभाव के गीत गाने को तत्पर हुआ हूँ, किन्तु विकल्प से आत्मस्वभाव की स्तुति पूर्ण नहीं होती। पक्षी उड़–उड़कर चाहे जितनी दूर चला जाय, किन्तु आकाश अनन्त है, इसलिये वह उसका पार नहीं पा सकता। इसीप्रकार सच्चे देव, शास्त्र, गुरु ने जैसा परिपूर्ण आत्मस्वभाव बतलाया है, वैसा ही मैं हूँ, आत्मस्वभाव अनन्तगुणों से परिपूर्ण है, उसकी स्तुति इस विकल्प के द्वारा पूर्ण नहीं हो सकेगी; किन्तु जब इस विकल्प को तोड़कर स्वभाव में स्थिर होंगे, तब स्तुति पूर्ण होगी और केवलज्ञान प्रगट होगा। इसलिये मैं इस स्तुति के विकल्प का भी कर्ता नहीं हूँ। अज्ञानी जीव जहाँ–तहाँ विकार का कर्ता होता है, किन्तु ज्ञानी की दृष्टि तो सब ओर से हटकर एक स्वभाव में ही स्थिर होती है। इसलिये ज्ञानी, भक्ति की शुभभावना के कर्ता नहीं होना चाहते। तब फिर वह निराधार विकारी भावना कहाँ तक टिक सकेगी? ज्ञानीजन अल्पकाल में ही स्वभाव–स्थिरता की श्रेणी द्वारा उस राग को तोड़कर स्वभाव के पार को प्राप्त हो जाते हैं। उस राग से स्वभाव को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

(१०५) ज्ञानीजन भगवान की भक्ति करते हैं कि–हे जिनेन्द्र! हमारी साधकदशा होने से

यद्यपि यह भक्ति का विकल्प उठता है, परन्तु हमारी रुचि में शुद्धज्ञायक आत्मस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी को स्थान नहीं है। पूर्ण शुद्धात्मा की दृढ़ रुचि में, जो भक्ति का विकल्प उठा है, वह कितने समय तक रहनेवाला है ? पक्षी चाहे जितना ऊँचे तक उड़ता जाय किन्तु वह आकाश का पार नहीं पा सकेगा, वह अन्त में थककर तो नीचे ही आयगा; इसीप्रकार चाहे जैसे शुभ विकल्प करे, किन्तु उससे स्वभाव की पूर्णता होनेवाली नहीं है; अन्त में तो विकल्प का नाश करके स्वरूप में ही अन्तर्लीन हो जाता है, और तभी पूर्णता होगी। विकल्परूपी पक्षी आत्मा में समाविष्ट होने योग्य नहीं है। अपने आत्मा में वीतराग-सर्वज्ञदेव को पहचानकर और आत्मस्वभाव की प्रतीति प्रगट करके साधकदशा प्रगट करने के बाद पूर्णता की भावना करते हुये बीच में भक्ति की वृत्ति उद्‌भूत होती है, उसे भी ज्ञानी छोड़ना चाहता है, और स्वभाव के पुरुषार्थ के द्वारा वृत्ति को तोड़कर स्वरूप में स्थिर होना चाहता है। आत्मस्वभाव अनन्तगुण स्वरूप है, विकल्प से उसका पार कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? ज्ञानस्वभाव के द्वारा ही उसका ध्यान आता है।

(१०६) रागमिश्रित होने पर भी जो ज्ञान एक समय में अनन्त को ध्यान में लेता है, वह ज्ञान यदि राग को मिटाकर स्वभाव के ही अवलम्बन से जाने तो उसमें ऐसी शक्ति है कि वह अनन्त लोकालोक को एक ही साथ प्रत्यक्ष जान सकता है। ऐसी शक्ति के धारक ज्ञानस्वभाव का विकल्प के द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता।

(१०७) परवस्तु को लक्ष में लेने से राग होता है। यदि सम्यग्दृष्टि जीव हो और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का लक्ष हो, तथापि उसकी पर की ओर की वृत्ति का होना राग ही है, उससे धर्म नहीं होता। जब कि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष में भी राग ही है, तब फिर जो कुदेवादि को मानता है, उसका तो कहना ही क्या है ? जिसे यथार्थ गुणों के द्वारा जिनेन्द्रदेव की सचाई भासित नहीं हुई है, वही कुदेव को मानता है। आजकल बहुत से लोग जैन नाम धारण करके भी लोकपाल, क्षेत्रपाल, पीर, शीतला आदि अनेक प्रकार के कुदेवों को मानते हैं; यह घोर अज्ञान है। जब तक कुदेवादि को साक्षात् आत्मा का घातक न माने, तब तक जीव को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(१०८) आर्यपुरुष व्यवहार में भी माँस नहीं खाता। किसी आर्यपुरुष का किसी माँसाहारी राजा के साथ संबंध हो, और कभी वह राजा उससे यह कहे कि 'आज तो हम दोनों एक साथ भोजन करें; मेरे मन को प्रसन्न रखने के लिये ही सही,-तुम मेरे साथ माँसयुक्त कढ़ी खाओ; अरे तनिक चखो तो सही' तो क्या राजा को खुश करने के लिये वह आर्यपुरुष ऐसा करेगा ? कदापि नहीं! भले ही चाहे जितनी हानि हो जाय, किन्तु व्यवहार में किसी को खुश करने के लिये वह

आर्यपुरुष माँस को खायेगा तो क्या, उसकी ओर देखेगा भी नहीं। इसीप्रकार जिज्ञासु जीव लोकव्यवहार में या घर में अच्छा लगाने के लिये कुदेवादि को कभी नहीं मानेगा। व्यवहार से घर में भी किसी प्रकार के कुदेवादि को नहीं मानेगा। किसी प्रकार से कुदेवादि को मानना घोर पाप है। यद्यपि परद्रव्य हानि-लाभ नहीं करता, किन्तु अपना विपरीत अभिप्राय ही महा हानि का कारण है।

(१०९) हे जीव! यदि तुझे धर्म करना हो तो पहले निश्चय कर कि सच्चे धर्म का स्वरूप बतलानेवाला कौन है? क्योंकि जीव ने अनादिकाल से धर्म को नहीं समझा है, इसलिये वह स्वयं स्वच्छन्दता से धर्म को नहीं समझ सकता; इसलिये परीक्षा करके यह निश्चित करना चाहिये कि सत्य धर्म को बतलानेवाले देव-गुरु-शास्त्र कौन हैं? उन्हें पहचान लेने के बाद भी यदि स्वयं स्वाश्रय से अपने स्वभाव का अभ्यास, परिचय और अनुभव प्रगट न करे, किन्तु देव-गुरु-शास्त्र के ही अवलम्बन में अटका रहे तो समझना चाहिये कि वह मुक्ति के मार्ग की ओर अभिमुख नहीं हुआ है, प्रत्युत संसार मार्ग में ही लगा हुआ है।

(११०) यहाँ उन सन्त मुनिराज को भगवान की स्तुति करने का विकल्प उठा है, जिन्हें सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहचान हो गई है और जिन्होंने स्वाश्रय के द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रदशा प्रगट की है। किन्तु वे विकल्प का अनादर करते हुये कहते हैं कि-हे नाथ! आत्मस्वभाव, विकल्पगम्य नहीं है किन्तु ज्ञानगम्य है। जब विकल्प का त्याग करके स्वानुभव में लीन होऊँगा, तब राग का अभाव होने पर स्तुति पूर्ण होगी, और स्तुति के फलस्वरूप परमवीतराग केवलज्ञानदशा प्रगट होगी।

(१११) अब ६० वें श्लोक में आचार्यदेव अपनी नम्रता व्यक्त करते हुए क्षमायाचना करते हैं कि हे गुणाकार प्रभो! आपके गुणों का स्तवन करने में इन्द्र भी असमर्थ हैं; किन्तु मुझ अल्पमति ने आपका स्तोत्र रचने का साहस किया है, उसके लिये मुझे क्षमा करें।

(११२) आचार्यदेव ने किस दोष की क्षमा माँगी है? सो कहते हैं:-पूर्ण वीतरागी ज्ञानघन स्वभाव के अनुभव में भंग होकर आज जो विकल्प उठा है, सो यह दोष हुआ है, उसी की आचार्यदेव ने क्षमायाचना की है-यह गूढ़ार्थ है। हे नाथ! आपका केवलज्ञान अनन्त पूर्ण है, और मैं मति-श्रुतज्ञान वाला हूँ, मेरा ज्ञान अल्प है, इस अल्पज्ञान के लक्ष से पूर्णता प्रगट होनेवाली नहीं है, किन्तु विकल्प और अपूर्णता का लक्ष छोड़कर, जब पूर्ण स्वभाव के अनुभव में एकाग्र होऊंगा, तब उस पूर्ण स्वभाव के अवलम्बन से ही पूर्णता प्रगट होगी। इसप्रकार सन्त मुनि अपनी निरभिमानता व्यक्त करते हैं और विकल्प का त्याग करके पूर्णता प्रगट करने की भावना करते हैं।

(११३) श्रीमद् राजचंद्रजी ने इस शास्त्र को वन्दनीय कहा है। यदि इस शास्त्र के भाव को भलीभांति समझ ले तो अल्पकाल में ही मुक्ति प्राप्त हो जाय।

(११४) हे जिनेन्द्र! मैंने अपने छोटे से ज्ञान में केवलज्ञान को प्राप्त करने की बड़ी बात कही है, इसलिये क्षमा करना। यहाँ वास्तव में अपने आत्मा के प्रति कहा है कि हे आत्मन्! अब इस विकल्प से हट जा, राग से दूर हो, और ज्ञानमूर्ति स्वरूप में स्थिर हो जा।

(११५) आत्मा का वीतरागस्वभाव मन, वाणी या विकल्प का विषय नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और स्वानुभूति का विषय है। ऐसे स्वभाव की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकदशा प्रगट हुई है, किन्तु अभी पूर्णता प्रगट नहीं हुई है। वहाँ पूर्णदशा के स्वरूप का जो विकल्प उठता है, वह भी पूर्णदशा को रोकनेवाला है। आचार्यदेव कहते हैं कि-जैसे हिरणी अपने बच्चे के प्रेम के कारण उसे बचाने के लिये मृगेन्द्र से जूझने लगती है, उसीप्रकार पूर्ण स्वभाव के बहुमान से मैं अल्पमति इस विकल्प के द्वारा उसका स्तवन करने को तत्पर हुआ हूँ, किन्तु जैसे हिरणी, मृगेन्द्र से नहीं जीत सकती; उसीप्रकार इस विकल्प से स्वभाव का स्तवन नहीं हो सकता। यह जो विकल्प उठा है, सो मेरा अपराध है। हे नाथ! आप रागरहित हैं, इसलिये आपकी स्तुति करते हुए मुझे भी रागरहितता प्रगट करनी चाहिये; उसके स्थान पर मैंने जो राग किया है, सो अपराध किया है। सम्यग्दृष्टि को छोड़कर दूसरा कौन इस राग को अपराध के रूप में मानेगा? जिसे रागरहित निरपराध स्वभाव की प्रतीति हुई है, वही राग को अपराध के रूप में जानकर छोड़ता है।

(११६) **प्रश्नः**-जहाँ संपूर्ण स्वरूप-स्थिरता न हो, वहाँ तो ऐसा अपराध करना ही पड़ता है?

उत्तरः-ज्ञानी की अपूर्णदशा में अपराध होता है किन्तु उसक उसे छोड़ने की भावना होती है। जो यह मानता है कि अपूर्णदशा में अपराध करना पड़ता है, उसकी अपराध करने की भावना है; और जिसकी अपराध करने की भावना है, वह मिथ्यादृष्टि है। पहले यह पहचान तो करो कि अपराध रहित स्वभाव क्या है और अपराध क्या है? निरपराध स्वरूप को जान लेने के बाद धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि से जो अल्प अपराध होता हैं, उसका वह वास्तव में कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता ही है। अज्ञानी को तो अपराध और निरपराध के बीच के ही खबर नहीं है। उसने अपराध से परे निरपराध भूमिका को देखा तक नहीं है; इसलिये उसके सदा एकान्त अपराध ही वर्तमान रहता है। यहाँ ज्ञानी की बात है, ज्ञानी को निरपराध स्वभाव की प्रतीति है और अपराध करने की भावना नहीं है, तथापि जो अल्पराग रह जाता है, उसे दूर करने के लिये क्षमायाचना करता है कि-हे वीतराग आत्मस्वभाव

परिणति! अब इस विकल्पजाल को तोड़कर तू स्वभाव में समा जा। अपनी परिणति में जो राग है, वही अपराध है, और अपनी वीतराग परिणति के द्वारा उस अपराध की क्षमा होती है।

(११७) अब आचार्यदेव अन्तिम श्लोक कहकर 'ऋषभ जिनस्तोत्र' को समाप्त करते हैं। हे जिनेन्द्र! हे प्रभो! आप भव्यजीवरूपी कमलों को आनन्द देनेवाले तेजनिधान, निर्दोष सूर्य के समान हैं। इसलिये मोहांधकार का नाश करने के लिये आपके चरण सदा प्रसन्न रहें। हे नाथ! मैं पद्म हूँ और आप सूर्य के समान हैं। मेरे आत्मकमल को विकसित करने के लिये आपके चरण सदा प्रसन्न रहें!

(११८) इस शास्त्र में आचार्यदेव ने 'दानाधिकार' का सुन्दरतापूर्वक वर्णन किया है। उसके अन्त में कहा गया है कि-अज्ञानी जीवों को लोभरूपी गहरे कुएँ से बाहर निकालने के लिये इस दानाधिकार का वर्णन किया है। किन्तु यह किसे रुचेगा? जिसे आत्मा की चिन्ता होगी, ऐसे कोमलहृदय भव्यजीवों को तो इसे सुनकर उल्लास होगा, किन्तु जो लक्ष्मी इत्यादि के तीव्र लोलुपी होंगे, उन जीवों को यह नहीं रुचेगा। जब भौंरा गुंजन करता हुआ फूल पर बैठता है, तब यदि वह कमल का फूल होता है तो तत्काल खिल उठता है, और यदि पत्थर का होता है तो नहीं खिलता। इसीप्रकार इस अध्यात्मरस के गुंजन से भरे हुए दानाधिकार को सुनकर कमलवत् कोमल हृदयवाले भव्यात्माओं के हृदयकमल हर्ष से खिल उठेंगे; किन्तु जो पाषाणवत् कठोर हृदय होंगे, उन पर इस तत्व से परिपूर्ण दान के उपदेश से कोई असर नहीं होगा।

(११९) हे नाथ! आप सभी भव्यजीवों को आनंद के दाता हैं। 'प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है, स्वभावतः विकार रहित है, प्रत्येक जीव अपने स्वाधीन स्वभाव के अवलम्बन से परमात्मा हो सकता है,' इसप्रकार अपने स्वभाव की महिमा आपके श्रीमुख से सुनकर भव्यजीव नाच उठते हैं, कि-अहा! मैं परमात्मा हूँ, मैं अपने परमात्मपद के लिये परमुखापेक्षी नहीं हूँ, मैं स्वभाव से परिपूर्ण हूँ, उस स्वभाव का अवलम्बन लेने से अब संसार शेष नहीं है। मेरे आत्मा में केवलज्ञानरूपी तेज का भण्डार भरा है। जहाँ जो भण्डार भरा होता है, वहीं से वह प्रगट होता है। आत्मा के स्वभाव में परिपूर्ण ज्ञान-भण्डार भरा हुआ है, वह बाह्यक्रिया से या राग से प्रगट नहीं होगा किन्तु रुचि और लीनता से ही प्रगट होगा। यह जो राग का विकल्प उठता है, वह मेरे चैतन्य-भण्डार में से प्रगट होनेवाली वस्तु नहीं है। आत्मा का एकमात्र चैतन्य का ही भण्डार है। उसमें राग को स्थान नहीं है। राग को सेवन से केवलज्ञान नहीं होगा, किन्तु चैतन्यभूमि (भण्डार) के खोदने से ही केवलज्ञान प्राप्त होता है। अपने जिस परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव का अन्तर्ध्यान करते-करते केवलज्ञान प्रगट

होनेवाला है, मैंने उस चैतन्यस्वभाव की प्रतीति की है और केवलज्ञान तथा सिद्ध पद चैतन्यद्रव्य में ही शक्तिरूप से विद्यमान हैं, उसी में लीन होकर मैं केवलज्ञान प्रगट करूँगा।

(१२०) हे नाथ! हमारे अज्ञान और मोहांधकार का नाश करने के लिये आप सूर्यसमान हैं। जैसे सूर्य के समक्ष अन्धकार नहीं रह सकता, उसीप्रकार अब मुझ में मोहांधकार नहीं रह सकता। हमारी दृष्टि में सदा चैतन्यस्वभाव ही प्रगट रहे। ज्ञानदर्शनरूपी आपके चरण-कमल सदा प्रसन्न रहें। सूर्य सदा प्रकाश का करनेवाला है, इसीप्रकार हे प्रभो! आप हमारे आनन्द में निमित्त हैं। आप वीतराग हैं, राग में आपका निमित्त नहीं है, किन्तु वीतरागता में ही है। इसप्रकार ज्ञानीजन वीतराग -भाव को ही देखते हैं, इसलिये भगवान में भी वीतरागता के ही निमित्तरूप से आरोप होता है।

(१२१) आचार्यदेव ने अन्त में यह याचना की है कि-हे जिनेन्द्रदेव! आपके चरणकमल सदा प्रसन्न रहें। अभी अपना केवलज्ञान रुक रहा है, और यहाँ से स्वर्ग में जाना है, इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हम स्वर्ग में जायेंगे, वहाँ यह चारित्रदशा नहीं रहेगी। परन्तु हे जिनेन्द्र! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी दोनों चरणकमल तो सदा प्रसन्न रहेंगे, हमारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो सदा अप्रतिहतरूप से बना रहेगा; इस दर्शन-ज्ञान के बल से मनुष्य भव में चारित्र की पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त करूँगा। 'भगवान के चरण प्रसन्न रहें' यह व्यवहार से-उपचार से कहा है। वास्तविक भावना तो यह है कि अभी केवलज्ञान अटक रहा है, तथापि परिपूर्ण स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञानरूपी चरण केवलज्ञान होने तक अप्रतिहतरूप से सदा बने रहें। पंचमकाल में चारित्र का भंग होता है, किन्तु सन्त मुनि उस पर लक्ष न देकर दर्शन-ज्ञान की अप्रतिहत भावना के बल से केवलज्ञान के साथ वर्तमान में संधि करते हैं और इसप्रकार श्री ऋषभदेव भगवान की स्तुति समाप्त होती है।●

ग्राहकों से निवेदन

कई सज्जन पत्रव्यवहार करते समय ग्राहक नंबर नहीं लिखते, जिससे उन्हें पत्रोत्तर यथासमय प्राप्त नहीं होता, अतएव उन्हें दु:ख होता है, और कार्यालय की व्यवस्था में भी उलझन होती है।

ग्राहक महानुभावों से निवेदन है कि पत्र देते समय ग्राहक नं. अवश्य लिखें ताकि उन्हें यथासमय पत्रोत्तर मिल सके तथा उचित व्यवस्था हो सके। -व्यवस्थापक

आत्म-भावना

[श्री समयसार हिन्दी, श्री जयसेनाचार्य कृत टीका पृष्ठ ३७८-९ और पृष्ठ ५५८ से ५६७ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

१- सर्वज्ञ के समस्त शास्त्रों का सार वीतरागभाव है, अर्थात् ''स्वपदार्थ के आश्रयरूप स्वभावभाव और परपदार्थों की उपेक्षा'' यही सबका सार है।

समयसार शास्त्र वास्तव में आत्मा का स्वभाव बतानेवाला साधन है। इस शास्त्र को समझकर भव्य जीवों का क्या कर्तव्य है ? वह श्री जिनसेनाचार्यदेव ने बताया है, और परमात्म -प्रकाश में भी इसीप्रकार कहा है। समस्त शास्त्रों का सार क्या है ? और भव्यजीवों का कर्तव्य क्या है ? क्या पूजा-भक्ति अथवा पर जीवों की दया आदि क्रियाऐं ही कर्तव्य है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्यदेव बताते हैं कि निम्नानुसार भावना करना ही भव्यजीवों का कर्तव्य है।

२- सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहम्-अर्थात् मैं सहज शुद्धज्ञान और आनन्द एकस्वभावरूप हूँ। इसप्रकार अपने आत्मा की भावना करना चाहिये। मैं सहज स्वभाविक-वस्तु हूँ, स्वाभाविक विकाररहित आत्मा हूँ, शुद्धज्ञान और आनन्द ही मेरा स्वभाव है, और वह सहज है, मेरे ज्ञान और आनन्द के लिये पर की अपेक्षा नहीं है। जो शुद्ध ज्ञानानंद स्वभाव है, उसकी ही भावना करने योग्य है, तथा पर्याय में जो अशुद्धता, अपूर्णज्ञान या आकुलता है, उसकी भावना करने योग्य नहीं है। अशुद्ध पर्याय की भावना छोड़कर सहज शुद्ध ज्ञानस्वभाव की ही भावना करना चाहिये, ज्ञानस्वभाव आनन्दमय है। जो ज्ञानानन्दरूप एक स्वभाव है, वही मैं हूँ, मुझमें आकुलता या दु:ख नहीं है।

यहाँ (मूल लेख में) पहले स्वभाव बताया है और पश्चात् विभाव से रहितता बतलाई है। जो सहज परिपूर्ण स्वभाव है, वह पहले बताया है।

मेरा स्वभाव एक ही है, मेरा सहज ज्ञानानंदस्वभाव नित्य एकरूप है। तीव्रराग और मंदराग अथवा अल्पज्ञान या अधिकज्ञान, ऐसे जो पर्याय के अनेक प्रकार हैं, वह मेरा रूप नहीं है। मैं मात्र एक सहज स्वभाववाला हूँ, ऐसी भावना से अपनी आत्मा का चिंतवन करना और समस्त आत्माओं का स्वभाव भी ऐसा ही है—ऐसी भावना करनी चाहिये। राग-द्वेष या अपूर्णता किसी भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। इसप्रकार अपने सहज ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा की भावना करना ही नित्य कर्तव्य है और यही मुक्ति का मार्ग है।

३- निर्विकल्पोऽहम्-अर्थात् मैं निर्विकल्प हूँ, इसप्रकार अपने आत्मा की भावना करना

चाहिये। मैं संकल्प-विकल्प से रहित निर्विकल्प हूँ। दया, भक्ति अथवा हिंसादि का कोई भी विकल्प मेरे स्वरूप में नहीं है, तथा ज्ञेयों के भेद से मेरे ज्ञान में भेद हो जाय-ऐसी मान्यतारूप विकल्प भी मुझमें नहीं है। मैं संकल्प-विकल्पों से रहित निर्विकल्पस्वभाव हूँ, और जगत के समस्त आत्मा भी ऐसे ही हैं। मैं अपने सहजस्वभाव के प्रति उन्मुख होकर अपनी आत्मा का तो निर्विकल्प अनुभव करता ही हूँ, और जब परलक्ष होता है, तब जगत के समस्त आत्मा भी निर्विकल्पस्वभाव हैं—ऐसा मैं जानता हूँ। जीव का स्वरूप समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित है —ऐसी आत्मस्वभाव की भावना निरन्तर करनेयोग्य हैं।

४-उदासीनोऽहम्-अर्थात् मैं उदासीन हूँ, ऐसी अपनी आत्मा की भावना करना चाहिये। मैं समस्त परद्रव्यों से उदासीन हूँ, मेरा स्वभाव कर्मों से, देव-गुरु-शास्त्र से और रागादि विकार से भी उदासीन है। मेरे सहजज्ञानानंद स्वभाव को किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं है, मैं बिल्कुल निरपेक्ष हूँ।

५-सहजशुद्धज्ञान-आनन्दस्वरूप, निर्विकल्प और उदासीन—ऐसा जो अपना स्वभाव है, उसका अनुभवन ज्ञान और प्राप्ति किसप्रकार होती है, अब उसकी भावना कहते हैं-

''निजनिरंजनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्प समाधि-संजातवीतरागसहजानंदरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन स्वसंवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहम्''-अर्थात् मैं निज निरंजन शुद्ध आत्मा के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्दरूप सुख की अनुभूतिमात्र जिसका लक्षण (स्वरूप) है—ऐसे स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा स्वसंवेद्य, गम्य, प्राप्य, भरितावस्थ हूँ-ऐसी अपनी आत्मा की भावना करना चाहिए। मेरा जो परिपूर्ण स्वभाव है, वह मेरे ही स्वसंवेदन ज्ञान से अनुभव में आता है, जाना जाता है और प्राप्त होता है। इससे अन्य किसी की आवश्यकता नहीं है। मेरे समान जगत में अनन्त आत्मायें हैं, उनका स्वभाव भी परिपूर्ण है और उनको भी स्वसंवेदनज्ञान से उसकी प्राप्ति होती है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

पहले कहा है कि-''निज'' अर्थात् मेरा आत्मा, (जगत में अनन्त आत्मायें हैं, वे नहीं, किन्तु मेरा ही आत्मा) वह कैसा है? निरंजन है। राग-द्वेष-मोहरूपी भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित मेरा स्वभाव है।''ऐसे अपने शुद्ध आत्मस्वभाव की सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता ही निश्चयरत्नत्रय है।'' ऐसे निश्चयरत्नत्रयस्वरूप निर्विकल्प समाधि द्वारा जो स्वसंवेदनज्ञान होता है, उससे ही आत्मा का वेदन होता है; प्रतीति होती है और प्राप्ति होती है; अन्य किसी रीति से शुद्ध

आत्मा का वेदन (अनुभवन) नहीं होता, प्रतीति तथा प्राप्ति नहीं होती। अपने निरंजनस्वरूप की सच्ची श्रद्धा-ज्ञान और उसमें ही लीनतारूप / तन्मयतारूप चारित्र—ऐसा निश्चयरत्नत्रय ही आत्मस्वभाव की प्राप्ति का उपाय है; व्यवहाररत्नत्रय भी उपाय नहीं है। व्यवहाररहित, विकल्परहित, मन के अवलम्बनरहित, गुण-भेदरहित—ऐसा अपने स्वभाव की शान्ति से उत्पन्न हुआ जो सहजानन्द अनुभव है, वही आत्मा का स्वसंवेदन है और ऐसे ही आत्मस्वभाव के स्वसंवेदन द्वारा मेरा वेदन होता है, मेरी प्रतीति होती है और प्राप्ति होती है।

अपनी ही निर्मल अवस्था से मेरा वेदन होता है, प्रतीति होती है और प्राप्ति होती है; किसी अन्य से मेरी प्रतीति नहीं होती, वेदन नहीं होता और प्राप्ति नहीं होती; इससे मैं भरित-अवस्था हूँ, अपने स्वभाव से परिपूर्ण हूँ।

जगत के समस्त जीव भी भरितावस्थ-परिपूर्ण हैं। वह भी अपनी आत्मा की निश्चय रत्नत्रयात्मक अनुभूति से ही संवेद्य हैं, जाननेयोग्य हैं, और प्राप्य हैं। मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंद हूँ, पर से प्राप्य (प्राप्त होने योग्य) नहीं हूँ तथा परपदार्थ भी मुझसे प्राप्य नहीं हैं। मैं अपने स्वभाव के स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा ही गम्य हूँ, ''किन्तु मन के विकल्पों से, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा से, ग्यारह अंग के ज्ञान से अथवा पंचमहाव्रत से जाना जाऊँ''—ऐसा नहीं हूँ। ऐसी ही भावना कर्तव्य है। निश्चयरत्नत्रयस्वरूप स्वसंवेदनज्ञान के अतिरिक्त समस्त व्यवहार और क्रियाकांड की इसमें शून्यता आती है, यही सच्ची क्रिया है।

मेरी आत्मा के स्वसंवेदनज्ञान से जाननेयोग्य, वेदन होनेयोग्य और प्राप्त होनेयोग्य ऐसा मैं भरित-अवस्था हूँ-अवस्थाओं से भरपूर हूँ, और परिपूर्ण हूँ; ऐसा जो परिपूर्ण स्वरूप है, वही भावना करनेयोग्य है। अपूर्णता अथवा विकार की भावना करनेयोग्य नहीं है।

६- इसप्रकार पहले स्वभाव से भरा हुआ परिपूर्ण हूँ—ऐसा 'अस्ति' से कहा है। अब मेरा स्वभाव सर्व विभावों से रहित-शून्य है—ऐसा 'नास्ति' से कथन करते हैं। स्वभाव से परिपूर्ण और विकार से शून्य—ऐसा अस्ति-नास्ति द्वारा आत्मस्वभाव की भावना का वर्णन है।

'रागद्वेषमोह-क्रोधमानमायालोभ,-पंचेन्द्रियविषयका-व्यापार मनोवचनकाय-व्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मख्यातिपूजालाभ-दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदान-मायामिथ्या-शल्यत्रयादि-सर्वविभावपरिणामरहित शून्योहम्'—अर्थात् मैं राग-द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँच इन्द्रियों के विषय-व्यापार, मन, वचन, काय के व्यापार, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म, ख्याति-पूजा-लाभ, उसीप्रकार दृष्टश्रुत अनुभूत भोगों की आकांक्षारूप निदान,

माया, मिथ्यारूप तीन शल्य इत्यादि सर्व विभावपरिणामों से रहित-शून्य हूँ—ऐसी अपनी आत्मा की भावना करना चाहिये।

राग-द्वेष और मोह अथवा स्वरूप में असावधानी, यह मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप राग-द्वेष-मोह से रहित है। व्यवहारश्रद्धा, ज्ञान, चारित्ररूप परिणाम भी मेरा स्वरूप नहीं है। जो व्यवहाररत्नत्रय की वृत्ति उठती है, वह आत्मा का व्यापार नहीं है; क्रोध, मान, माया, लोभ से भी मैं रहित हूँ। क्रोधादि आकुलभाव मुझमें नहीं हैं।

मैं पाँच इन्द्रियों के विषय व्यापार से रहित हूँ। जितना पाँच इन्द्रियों का विषय है, वह मैं नहीं हूँ; पाँच इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, और उस ज्ञान द्वारा जो जाना जाता है, वह भी मैं नहीं हूँ। मन, वचन, काय के व्यापार मुझमें नहीं हैं; शरीर की क्रियायें, वाणी की प्रवृत्ति, अथवा मन के विकल्प, इन सबसे मैं रहित हूँ; मन के लक्ष से जो विकल्प होते हैं, वह भी मैं नहीं हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ, चैतन्य मेरा व्यापार है।

मैं भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म, से रहित हूँ। जो भी विकारीभाव होता है, वह मेरे स्वभाव में नहीं है। नोकर्म अर्थात् शरीरादि मैं नहीं हूँ, और आठ प्रकार के द्रव्यकर्म भी मैं नहीं हूँ।

यहाँ ''मैं ऐसा हूँ और ऐसा नहीं हूँ''—ऐसी मात्र विकल्प की बात नहीं है, किन्तु द्रव्यदृष्टि के बल से पर्यायदृष्टि को छुड़ाते हैं। पर्यायदृष्टि को छोड़कर परिपूर्ण स्वभाव का अनुभव करना, यही सबका सार है, यही कर्तव्य है। यहाँ अस्ति-नास्ति के द्वारा स्वभाव की भावना का वर्णन किया है।

मेरे आत्मा में ख्याति-लाभ-पूजा की आकांक्षा नहीं है। (ख्याति अर्थात् प्रसिद्धि) मेरा स्वरूप ही मुझमें प्रसिद्ध है, बाह्य प्रसिद्धि की आकांक्षा से मैं रहित हूँ, बाह्य में प्रसिद्धि की आकांक्षारूप परिणाम होते हैं, वह मैं नहीं हूँ। मुझमें इन परिणामों की नास्ति है। पूजा अथवा लोभ की आकांक्षा भी मुझमें नहीं हैं। पर्याय में कोई विभावपरिणाम होता हो, तथापि उसका स्वभाव की भावना में निषेध है। पर्याय में जो विकार होता है, उसकी भावना नहीं होती, भावना तो परिपूर्ण शुद्ध स्वभाव की ही होती है।

देखा हुआ, सुना हुआ, अथवा अनुभव किया हुआ जो भोग है, उसकी इच्छारूपी निदानशल्य से मैं रहित हूँ। 'देखा हुआ' कहने से दर्शन आया 'सुना हुआ' कहने से श्रुतज्ञान आया और 'अनुभव किया हुआ' कहने से चारित्र आया। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र द्वारा स्वरूप के सहज सुख का उपभोग करना, वह मेरा कर्तव्य है। मैं परपदार्थों के भोग की आकांक्षा से रहित हूँ, अर्थात्

मुझमें माया या कपटरूपी शल्य नहीं है। स्वरूप को प्राप्त करने में शल्यरूप मिथ्यात्व, माया का निदान, यह भी मुझमें नहीं है। ऊपर कहे हुये विभावों से और दूसरे भी सर्व विभावों से मैं रहित हूँ, और स्वभाव से परिपूर्ण हूँ, त्रिकाल में ऐसा ही हूँ, वर्तमान में-इससमय भी ऐसा हूँ। मुझमें रागादि नहीं है। समस्त आत्मा भी ऐसे ही हैं—ऐसी भावना करना ही कर्तव्य है। यही सर्वज्ञ के शासन का सार है, दिव्यध्वनि का तात्पर्य है और बारह अंगों का सार है।

मैं स्वभाव से परिपूर्ण और सर्व विभावों से रहित हूँ। मैं स्वभाव की भावना के अतिरिक्त अन्य सर्व भावनाओं से रहित हूँ। मेरी आत्मा में किसी भी फल की आकाँक्षा नहीं है। सहजस्वरूप से मैं ज्ञान-आनंदमय हूँ। सर्व विभावों से रहित, विकार से रहित, उपाधि से रहित, दया, दान, जप, तप, इत्यादि से रहित, हिंसादि से रहित, निमित्तों के अपेक्षा से रहित, व्यवहाररत्नत्रय से रहित हूँ। भरित-अवस्था अर्थात् अपने स्वभाव से भरा हुआ-परिपूर्ण हूँ और विभाव से रहित हूँ। ऐसी ही स्वभाव भावना समस्त सम्यक्दृष्टि करते हैं, ऐसी ही भावना करने से सम्यक्दृष्टि होते हैं। ऐसे स्वभाव की भावना के अतिरिक्त अन्य किसी भावना से सम्यक्दर्शन नहीं होता।

७- इस भावना में दो भाग आये हैं—पहिले भाग में परिपूर्ण स्वभाव की अस्ति बताई है और दूसरे भाग में सर्व विभावों की नास्ति बताई है। इसप्रकार अस्ति-नास्ति के द्वारा पूर्णस्वभाव बताया, यही अनेकान्त है। इसमें पूर्ण आत्मस्वभाव बताने पर गौणरूप से निर्मलपर्याय का और विकारी पर्यायों का भी वर्णन आ गया। क्या ग्रहण करने योग्य है, क्या छोड़ने योग्य है-यह भी आ गया। कौन-सी भावना कर्तव्य है, वह भी आ गया। सर्व सत्शास्त्रों का प्रयोजनभूतसार इसमें आ जाता है।

८- 'ऊपर जैसे परिपूर्ण आत्मा की भावना करने को कहा है, वैसा परिपूर्ण तो सिद्धदशा में होता है, इस समय तो रागी और अपूर्ण ही है'-ऐसा कोई माने तो उसके समाधान के लिये विशेष स्पष्टीकरण करते हैं, और ऊपर कही हुई भावना ही निरंतर कर्तव्य है, ऐसा कहते हैं:-

जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्चशुद्धनिश्चयनयेन तथा सर्वेऽपि जीवाः इति निरंतरं भावना कर्तव्येति—अर्थात्-तीनलोक और तीनकाल में शुद्ध निश्चयनय से मैं ऐसा (स्वभाव से पूर्ण और विभाव से रहित) हूँ तथा समस्त जीव ऐसे ही हैं। ऐसी मन, वचन, काय से तथा कृत, कारित, अनुमोदना से निरन्तर भावना कर्तव्य है। (अपूर्ण)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.०७-०८-४८
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड